व्यवहारनयकी अभूतार्थताका अभिप्राय

आचार्य कुन्दकुन्दके समयसारमें निम्नलिखित गाथा पायी जाती है—

"ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणयो।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥११॥"

अर्थ—(जिन शासनमें) व्यवहारनयको अभूतार्थ और शुद्धनय अर्थात् निश्चयनयको भूतार्थ कहा गया है। जिस जीवने भूतार्थनयरूप शुद्धनय अर्थात् निश्चयनयका अवलम्बन लेकर वस्तुतत्त्वके स्वरूपकी पहिचान कर ली है वह जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि जीवोंको वस्तुतत्त्वके स्वरूपकी पहिचान भूतार्थनयरूप शुद्धनय अर्थात् निश्चयनय द्वारा ही हो सकती है। अतः इसके लिए प्रत्येक जीवको इस नयका ही अवलम्बन लेना चाहिए।

इस कथनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि जिन-शासनमें निश्चयनय और व्यवहारनय ऐसे दो भेद नयोंके बतलाये गये हैं। नय प्रमाणका अंशरूप होता है और प्रमाण वचनात्मक और ज्ञानात्मक दो प्रकारका होता है। अतः निश्चय और व्यवहाररूप दोनों प्रकारके नय भी वचनात्मक और ज्ञानात्मकके भेदसे दो-दो प्रकारके सिद्ध होते हैं। वचनका अपने विषयभूत पदार्थके साथ प्रतिपाद्य-प्रतिपादकसम्बन्ध रहता है। अर्थात् वचन अपने विषयभूत पदार्थका प्रतिपादक होता है और वह पदार्थ उस वचनका प्रतिपाद्य होता है। इसी तरह ज्ञानका अपने विषयभूत पदार्थके साथ ज्ञाप्य-ज्ञापकसम्बन्ध रहता है। अर्थात् ज्ञान अपने विषयभूत पदार्थका ज्ञापक होता है और वह पदार्थ उस ज्ञानका ज्ञाप्य होता है। चूँकि उपर्युक्त गाथामें व्यवहारनयको अभूतार्थनय कहा गया है, अतः इसका प्रतिपाद्य अथवा प्राप्य पदार्थ भी अभूतार्थ होना चाहिए और चूँकि उपर्युक्त गाथामें ही निश्चयनयको भूतार्थनय कहा गया है अतः इसका प्रतिपाद्य अथवा ज्ञाप्य पदार्थ भी भूतार्थ होना चाहिए। यही कारण है कि उपर्युक्त गाथाकी टीकामें आचार्य श्रीअमृतचन्द्रने लिखा है कि—

"व्यवहारनयो हि सर्व एव अभूतार्थत्वादभूतमर्थं प्रद्योतयति। शुद्धनय एक एव भूतार्थत्वाद्-भूतमर्थं प्रद्योतयति।"

अर्थ—सम्पूर्ण व्यवहारनय अभूतार्थ होनेके कारण अभूत पदार्थका प्रद्योत करता है तथा शुद्धनय अर्थात् निश्चयनय एक ही ऐसा नय है कि वह भूतार्थ होनेसे भूत पदार्थका प्रद्योत करता है।

इस कथनका निचोड़ यह है कि वचनरूप व्यवहारनय अभूतार्थ होनेसे अपने विषयभूत अभूत अर्थका ही प्रतिपादन करता है और ज्ञानरूप व्यवहारनय भी अभूतार्थ होनेसे अपने विषयभूत अभूत अर्थका ही ज्ञापन करता है। इसी प्रकार वचनरूप निश्चयनय भूतार्थ होनेसे अपने विषयभूत भूत अर्थका ही प्रतिपादन करता है और ज्ञानरूप निश्चयनय भी भूतार्थ होनेसे अपने विषयभूत भूत अर्थका ही ज्ञापन करता है। चूँकि उपर्युक्त गाथाके अनुसार जीवको सम्यग्दृष्टि बननेके लिए वस्तुतत्त्वके स्वरूपकी पहिचान होना आवश्यक है तथा वस्तुतत्त्वके स्वरूपकी पहिचान उसकी भूतार्थताकी पहिचानके ऊपर निर्भर है और इस भूतार्थताकी पहिचान भी उपर्युक्त गाथाकी टीकाके उपरिनिर्दिष्ट उद्धरणके अनुसार भूतार्थ कहे जानेवाले निश्चयनयके द्वारा ही हो सकती है। अतः आचार्य श्रीकुन्दकुन्दने जीवको सम्यग्दृष्टि बननेके लिए भूतार्थ कहे जानेवाले निश्चयनयका अवलम्बन ग्रहण करनेका उपदेश दिया है।

अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पदार्थकी भूतार्थता क्या वस्तु है, जिसके आधारपर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थ भूतार्थ कहलाता है और जिसका ग्रहण भूतार्थ कहे जानेवाले निश्चयनय द्वारा होता है ? इसी तरह पदार्थकी अभूतार्थता क्या वस्तु है, जिसके आधारपर पदार्थ अभूतार्थ कहलाता है और जिसका ग्रहण अभूतार्थ कहे जानेवाले व्यवहारनयद्वारा होता है ? आगे इसी विषयपर विचार किया जाता है।

प्रत्येक वस्तुमें दो प्रकारके धर्म विद्यमान रहते हैं—एक तो वस्तुके स्वतःसिद्ध धर्म और दूसरे आपेक्षिक धर्म। प्रकृतिमें वस्तुके जितने स्वतःसिद्ध धर्म होते हैं उन्हें ही भूतार्थ धर्म समझना चाहिए और वस्तुके जितने आपेक्षिक धर्म होते हैं उन्हें ही अभूतार्थ धर्म समझना चाहिए।

वस्तुके स्वतःसिद्ध धर्मोंको भूतार्थ कहनेका कारण यह है कि इनके आधारपर वस्तुका स्वतन्त्र (स्वावलम्बनपूर्ण), स्वतःसिद्ध (अन्यकी अपेक्षाके बिना ही स्वके आधारपर निष्पन्न), स्वाश्रित (वस्तुकी अपनी ही सीमामें रहनेवाला), व्यापक (स्वको व्याप्तकर रहनेवाला), प्रतिनियत (अन्य सभी वस्तुओंमें नहीं पाया जानेवाला) और शुद्ध (अखण्ड अर्थात् अमिश्रित एकत्वविशिष्ट) स्वरूप निश्चित होता है। स्वतः-सिद्ध धर्मोंकी इस विशेषताके आधारपर ही अनन्त जीवद्रव्य, अनन्त अणुरूप पुद्गलद्रव्य, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात अणुरूप कालद्रव्य ये सभी वस्तुएँ अपने-अपने पृथक्-पृथक् व्यक्तित्वको धारण किये हुए विश्वमें अनादिकालसे रहती आयी हैं और अनन्तकाल तक रहनेवाली हैं। जीव-द्रव्योंका अपना-अपना चित्स्वभाव (ज्ञायकभाव), पुद्गल द्रव्योंका अपना-अपना रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवत्व, धर्मद्रव्यका जीवद्रव्यों और पुद्गलद्रव्योंकी हलन-चलन क्रियामें सहकारित्व, अधर्मद्रव्यका जीवद्रव्यों और पुद्गलद्रव्योंकी स्थितिमें सहकारित्व, आकाशद्रव्यका समस्त द्रव्योंको अपने अन्दर समा लेनेकी सामर्थ्यरूप अवगाहकत्व और कालद्रव्योंका समस्त द्रव्योंकी वर्तमानतामें साहाय्यरूप वर्तना इनके अपने-अपने स्वतः-सिद्ध धर्म हैं। अग्निकी उष्णता और जलकी शीतलता भी क्रमसे अग्निका और जलका अपना-अपना स्वतः-सिद्ध धर्म है क्योंकि इनके आधारपर अग्निका तथा जलका भी अपना-अपना स्वरूप और व्यक्तित्व निर्धारित होता है।

वस्तुके आपेक्षिक धर्म दो प्रकारके होते हैं। एक प्रकारके आपेक्षिक धर्म वे हैं जो भेदके आधारपर वस्तुमें उत्पन्न होते हैं और दूसरे प्रकारके आपेक्षिक धर्म वे हैं जो अन्य वस्तुके आधारपर वस्तुमें उत्पन्न होते हैं। इन सभी आपेक्षिक धर्मोंको अभूतार्थ कहनेका कारण यह है कि ये धर्म वस्तुमें सर्वदा विद्यमान न रहनेके कारण उसके स्वरूप और व्यक्तित्वका निर्धारण करनेमें सहायक नहीं होते हैं। जीवके अन्दर मुक्ति और संसार तथा संसारमें भी विविध अवस्थाओं कृत भेदके आधारपर तरतमभावसे पाये जानेवाले दर्शन, ज्ञान और चारित्र भेद सापेक्ष आपेक्षिक धर्म हैं तथा जीवके अन्दर ही पौद्गलिककर्मोंके सहयोगके आधारपर तरतमभावसे पाये जानेवाले राग, द्वेष, मोह आदि औदयिक भाव तथा क्षायोपशमिक आदि भाव अन्य वस्तु सापेक्ष आपेक्षिक धर्म हैं। इसी प्रकार जलमें पायी जानेवाली उष्णता भी अन्य वस्तु-सापेक्ष आपेक्षिक धर्म है। जीवमें पाये जानेवाले राग, द्वेष और मोहरूप औदयिक भाव उस उस पौद्गलिककर्मका उदय होनेपर ही उत्पन्न होते हैं तथा क्षायोपशमिकादिभाव उस-उस पौद्गलिककर्मके क्षयोपशम आदिके होनेपर ही उत्पन्न होते हैं। इसी तरह जलमें पाई जानेवाली उष्णता भी अग्निके सहयोगसे उत्पन्न होती है। अतः ये सभी धर्म अन्य वस्तु-सापेक्ष आपेक्षिक धर्म कहे गये हैं।

वस्तुके स्वतःसिद्ध धर्म वस्तुमें सर्वदा पाये जाते हैं, कभी भी इनका अभाव नहीं होता। अतः इन्हें कथंचित् सद्भूत (सद्भाव प्राप्त) और कथंचित् असद्भूत (अभाव प्राप्त) धर्म माना गया है। जैसे जीवके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चित्स्वभाव (ज्ञायकभाव) में जब तक भेदकी विवक्षा होती है तब तक दर्शन, ज्ञान और चारित्रका सद्भाव सिद्ध होता है और यदि भेदकी विवक्षा न रहे तो दर्शन, ज्ञान तथा चारित्रकी स्थिति भी नहीं रहती है। जीवमें भेदकी यह विवक्षा तभी तक रहती है जब तक कि दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपसे चित्स्वभाव (ज्ञायक-भाव) के विभाजनकी उपयोगिता सामने रहा करती है और यदि चित्स्वभावके दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपसे विभाजनकी उपयोगिता न हो तो फिर जीवके चित्स्वभावमात्रकी ही स्थिति रह जाती है। इसप्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र जीवोंके कथंचित् सद्भूत और कथंचित् असद्भूत धर्म हैं। इसी प्रकार जब तक उस-उस पौद्-गलिककर्मका उदय विद्यमान रहता है तब तक जीवमें राग, द्वेष और मोहका सद्भाव रहा करता है और यदि उस-उस कर्मके उदयका अभाव हो जाता है तो जीवमें राग, द्वेष तथा मोहका भी अभाव हो जाता है। यही बात जीवके क्षायोपशमिकादि भावोंके विषयमें भी समझ लेनी चाहिए। इसी प्रकार जबतक जलको अग्नि-का सहयोग प्राप्त रहता है तबतक उसमें उष्णताका भी सद्भाव रहा करता है और यदि जलको अग्निका सहयोग मिलना बन्द हो जाता है तो जलकी उष्णता भी समाप्त हो जाती है। इस प्रकार अन्य वस्तु सापेक्ष-आपेक्षिक धर्म भी कथंचित् सद्भूत और कथंचित् असद्भूत माने गये हैं।

दर्पणमें पदार्थका प्रतिबिम्ब पड़ना भी प्रतिबिम्बित होनेवाले पदार्थके अवलम्बन जन्य दर्पणका आपेक्षिक धर्म है और मिट्टीकी कुम्भकारनिमित्तक घटपर्याय भी मिट्टीका आपेक्षिक धर्म (अवस्था) है। परन्तु इनमें अन्तर यह है कि प्रतिबिम्बित पदार्थका अवलम्बन समाप्त होते ही दर्पण अपनी स्वच्छ अवस्थाको प्राप्त-कर लेता है। लेकिन कुम्भकारकी निमित्तता समाप्त होनेपर भी द्रव्यपर्याय होनेके कारण मिट्टीकी घटपर्याय बनी रहती है। ज्ञानकी पदार्थके अवलम्बनपूर्वक होनेवाली उपयोगाकार परिणति भी ज्ञानका आपेक्षिक धर्म है। ये सब धर्म भी कथंचित् सद्भूत और कथंचित् असद्भूत ही हुआ करते हैं और इनका ज्ञान तथा कथन भी ज्ञान तथा वचनरूप व्यवहारनयसे ही होता है।

इस तरह यों भी कहा जा सकता है कि इन या इसी तरहके अन्य आपेक्षिक धर्मोंकी कथंचित् सद्भूतता और कथंचित् असद्भूतता ही वस्तुकी अभूतार्थता तथा स्वतःसिद्ध धर्मोंकी सर्वथा सद्भूतता ही वस्तुकी भूतार्थता जानना चाहिये। भूतार्थताके कथनके लिए आगममें यथार्थ, निश्चय, वास्तविक तथा मुख्य आदि शब्दोंका भी प्रयोग मिलता है और अभूतार्थताके कथनके लिए अयथार्थ, व्यवहार, आरोपित तथा गौण आदि शब्दोंका भी प्रयोग मिलता है। परन्तु फिर भी इन सब शब्दोंका प्रयोग होते हुए भी जिस तरह भूतार्थ धर्मोंकी सर्वथा सद्भूतता सुरक्षित रहती है उसी तरह अभूतार्थ धर्मोंकी कथंचित् सद्भूतता और कथंचित् असद्भूतता भी सुरक्षित रहती है। इसलिए जिस प्रकार भूतार्थको ग्रहण करनेवाला निश्चयनय अपनी सत्यताको सुरक्षित रखता है। उसी प्रकार अभूतार्थको ग्रहण करनेवाला व्यवहारनय भी अपनी सत्यताको सुरक्षित रखता है। यदि ऐसा न हो तो फिर आकाशके पुष्प तथा गधेके सींगकी तरह व्यवहारनयका विषय सर्वथा असद्भूत ही हो जायगा, जिससे व्यवहारनयकी प्रामाणिकता सर्वथा लुप्त हो जायगी। इस तरह तब उसे व्यवहारनय कहना ही असंगत होगा, क्योंकि आगममें प्रमाणका अंश होनेके कारण निश्चयनयकी तरह व्यव-हारनयको भी प्रामाणिकरूपमें स्वीकार किया गया है और व्यवहारनयकी प्रामाणिकरूपमें स्थिति तभी स्वीकार की जा सकती है जबकि उसका विषयभूत पदार्थ आकाशके पुष्प तथा गधेके सींगकी तरह सर्वथा अभावात्मक न हो। यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार, गाथा १४ की आत्मख्याति-टीकामें, पानीमें, डूबे हुए कमलपत्रका जो पानीके साथ संस्पर्श हो रहा है उस संस्पर्शको तथा पानीकी अग्निके सहयोगसे जो उष्णतामय पर्याय बनती है उस उष्णतामय पर्यायको व्यवहारनयका विषय होनेके कारण सद्भूत अर्थात् सद्भाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त पदार्थ माना है। यह मानी हुई बात है कि पराश्रित और अस्थायी होनेके कारण पानीके साथ हो रहा संस्पर्श कमलपत्रका और अग्निके सहयोगसे हो रही उष्णतामय पर्याय पानीका स्वतःसिद्ध धर्म नहीं है और यही कारण है कि वे दोनों निश्चयनयके विषय नहीं हैं। लेकिन स्वतःसिद्ध धर्म न होनेसे यदि उनको आकाशके पुष्प और गधेके सींगकी तरह सर्वथा असद्भूत (अभावात्मक) ही माना जाय तो फिर उन्हें व्यवहारनयका विषय कैसे माना जा सकेगा? तथा तब जीवोंको जलके साथ हो रहे कमलपत्रके संस्पर्शका और जलकी अग्निके सहयोगसे हो रही उष्णतामय पर्यायका जो भान होता है उसे क्या भ्रमज्ञान नहीं कहा जायगा? और यदि ऐसे ज्ञानोंको भ्रमज्ञान माना जाता है तो इसके अतिरिक्त व्यवहारनय फिर क्या वस्तु मानी जायगी? जो जैन मान्यताको वेदान्तकी मान्यतासे पृथक् कर सके। अतः यही स्वीकार करना चाहिए कि जिसप्रकार वस्तुमें निश्चयनयके विषयभूत स्वतःसिद्ध धर्मोका सर्वथा सद्भाव रहता है उसी प्रकार वस्तुमें व्यवहारनयके विषयभूत भेद-सापेक्ष और अन्य वस्तु-सापेक्ष आपेक्षिक धर्मोंका भी कथंचित् सद्भाव और कथंचित् अभाव रहता है।

तात्पर्य यह है कि कमलपत्रका जलके साथ हो रहा संस्पर्श व जलकी अग्निसहयोगजन्य उष्णतामय पर्याय दोनों ही जब जीवोंके अनुभवमें आते हैं तो जबतक वह अपेक्षा विद्यमान है तबतक उनकी आपेक्षिक धर्मके रूपमें सद्भूतताको अस्वीकृत करनेकी कौन हिम्मत कर सकता है?

इस प्रकार कमलपत्रका जलके साथ हो रहा संस्पर्श, जलकी अग्निके सहयोगसे निष्पन्न हुई उष्णतामय पर्याय, मिट्टीकी कुम्भकारके सहयोगसे उत्पन्न होनेवाली घटरूप पर्याय, दर्पणमें पदार्थके अवलम्बनसे पड़नेवाला पदार्थका प्रतिबिम्ब, और ज्ञानकी पदार्थके अवलम्बनसे पदार्थज्ञानरूप परिणति ये सब उस-उस वस्तुकी आपेक्षिक अवस्थाके रूपमें जब तक अपेक्षा बनी हुई है तब तक सद्भूत हैं। इसी प्रकार कमलपत्रका जलके साथ हो रहे संस्पर्शमें जलका सहयोग, जलकी उष्णतामय पर्यायमें अग्निका सहयोग, मिट्टीकी घटपर्यायमें कुम्भकारका सहयोग, दर्पणमें पड़ रहे पदार्थके प्रतिबिम्बमें पदार्थका सहयोग और ज्ञानकी पदार्थज्ञानरूप परिणतिमें पदार्थका सहयोग ये सब उस-उस वस्तुके आपेक्षिक धर्मके रूपमें जबतक अपेक्षित हैं तबतक सद्भूत हैं और इसीलिए ये सभी प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावकी अपेक्षा वचनरूप व्यवहारनयके तथा ज्ञाप्य-ज्ञापक भावकी अपेक्षा ज्ञानरूप व्यवहारनयके विषय हैं एवं क्योंकि ये सब उस-उस वस्तुके स्वतः सिद्ध धर्म या स्वतः उत्पन्न होनेवाले धर्मोके रूपमें सर्वथा सद्भूत नहीं हैं, इसीलिए ये सब प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावकी अपेक्षा वचनरूप निश्चयके तथा ज्ञाप्य-ज्ञापकभावकी अपेक्षा ज्ञानरूप निश्चयनयके विषय नहीं हैं। साथमें यह भी निश्चित समझना चाहिए कि व्यवहारनयके विषय होनेके कारण उपर्युक्त सभी धर्म आकाशके पुष्प तथा गधेके सींगकी तरह सर्वथा असद्भूत भी नहीं हैं।

इसीप्रकार आत्मामें उस-उस पुद्गलकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले राग, द्वेष और मोह आदि औदयिक भावों तथा उस-उस पुद्गलकर्मके क्षयोपशम आदिके आधारपर आत्मामें उत्पन्न होनेवाले क्षायोपशमिकादिभावोंके विषयमें भी कथंचित् सद्भूतपने और कथंचित् असद्भूतपनेकी मान्यता ही युक्त है।

एक बात और है कि यदि व्यवहारनयके विषयभूत उक्त सभी धर्मोंको या इसी प्रकारके अन्य धर्मोंको सर्वथा असद्भूत माना जायगा तो इसका समयसारकी गाथा १४ की आत्मख्यातिटीकासे साथ ही उनके विषयमें जीवोंको होनेवाले सद्भूतताके अनुभवके तो विरुद्ध होगा ही लेकिन इस तरहसे तो दो आदि पुद्गल परमाणुओंके परस्पर-संयोगसे निष्पन्न द्वयणुक आदि स्कन्धोंकी कथंचिद् सद्भूतता भी समाप्त हो जायगी, जिसका परिणाम यह होगा कि लोकमें जितना-जितना स्कन्धाश्रित व्यवहार चलता है और प्राणियोंको जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्कन्धोंकी सद्भूतताका अनुभव होता है वह सब भी मिथ्या कल्पनाकी वस्तु रह जायगी, क्योंकि दो आदि परमाणुओंके मिश्रणसे ही तो द्व्यणुक आदि स्कन्धोंका निर्माण होता है। परन्तु जब यह सिद्धान्त निश्चित है कि प्रत्येक अणु दूसरे एक या अनेक अणुओंके साथ बद्धता (मिश्रण) को प्राप्त होकर भी स्वतन्त्र द्रव्य होनेके कारण सर्वदा अपनी-अपनी आकृति, प्रकृति और विकृतिमें ही रहता है, कभी न तो दूसरे अणुरूप हो सकता है और न दूसरे अणुओंके गुणधर्मोंको ही अपने अन्दर लाता है तो द्व्यणुकादि स्कन्धोंकी कोरी कल्पनाके अतिरिक्त और क्या स्थिति रह जायगी ?

इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि वस्तुमें भेदके आधारसे अथवा परवस्तुके आधारसे जितने अभूतार्थ धर्म सिद्ध होते हैं वे सब इस लेखमें दर्शाये गये प्रकारसे कथंचित् सद्भूत और कथञ्चित् असद्भूत ही होते हैं। न तो भूतार्थ धर्मोंकी तरह सर्वथा सद्भूत ही होते हैं और न आकाशके पुष्प तथा गधेके सींगकी तरह सर्वथा असद्भूत ही होते हैं। अथवा यों कहिये कि स्वतःसिद्धताके रूपमें सर्वथा सद्भूत रहना ही वस्तुकी भूतार्थता है और सापेक्षताके रूपमें कथञ्चित् सद्भूत और कथञ्चित् असद्भूत रहना ही वस्तुकी अभूतार्थता है। समयसारकी उल्लिखित गाथा ११ के भूतार्थ और अभूतार्थ शब्दोंका इसी प्रकार विश्लेषण करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org